प्राक्कथन

स्वामी जी की पुस्तक 'मेरे विचार' का नवीन संस्करण आपके समक्ष रखते हुए हमें बड़ी प्रसन्नता हो रही है। यह पुस्तक बिना किसी संशोधन के आपके सम्मुख आ रही है।

हमें विश्वास है कि साधक भाई–बहन इस पुस्तक को पढकर पूरा–पूरा लाभ उठायेंगे और स्वामी जी के विचारों को अपने जीवन में अपनाएंगे।

हम उन सभी के आभारी है जिन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन में हमें सहयोग दिया है और स्वामी जी की कृपा के पात्र बने।

ओ0पी0 सेखड़ी

दो शब्द

श्री स्वामी जी के सम्मुख मैने ही अंग्रेजी की मूल पुस्तिका "AS I UNDERSTAND" संकलित की थी जिसकी भूमिका उन्होंने ही लिखी है जो अगले प्रष्ठ पर है। दूसरा संस्करण छपने पर इसके हिन्दी अनुवाद की माँग हुई। फलतः यह पुस्तक आपके सन्मुख है।

इसका अनुवाद भाई गंगा प्रसाद गर्ग (शामली) ने किया। पुस्तिका को अधिक उपयोगी एवं सरल बनाने के लिए सम्पादन करते समय मैने भाषानुवाद में कुछ हेर–फेर तो किया ही, साथ ही सामग्री को भी कुछ इधर–उधर किया है। अतः इसे कोरा भाषानुवाद न कह कर हिन्दी रूपान्तर कहना अधिक उपयुक्त होगा।

यह पुस्तिका संक्षेप में हमारी विचारधारा का विस्तृत परिचय देती है। साधना सम्बन्धी हमारे अन्य ग्रन्थों को समझने में भी यह सहायक होगी – ऐसी आशा है।

लखनऊ पुरुषोत्तम

10.04.1965

प्राक्कथन

इस पुस्तिका में जिन अवतरणों का संकलन किया गया है वे मेरी डायरियों एवं प्रश्नों के उत्तर में लिखे मेरे कुछ पत्रों से लिए गए हैं। इसे विस्तृत बनाने के लिए मैने इसमें कुछ सामग्री बढ़ा दी है। इसके प्रकाशन की अनुमति मैने इस आशा से दी है कि इससे विवेकशील लोगों को सोचने तथा अपना दृष्टिकोण विस्तृत करने की प्रेरणा मिलेगी। प्रश्नों के बिना भी इसे समझने में कठिनाई नहीं होनी चाहिये। मैने उन्हें अनावश्यक समझकर छोड़ दिया है।

क्या मैं उन मित्रों के प्रति आभार प्रगट करूँ जो इसे प्रकाशित कर रहे हैं? ऐसा करने में मुझे संकोच लगता है, क्योंकि मेरा विचार है कि यह तो उनकी तथा पाठकों की अपनी ही वस्तु है, मेरी नहीं।

हरसूल, जिला नासिक रामानन्द

11.12.1951

अपने पाठकों से

(द्वितीय संस्करण से अनुवादित)

प्रस्तुत पुस्तिका श्री स्वामी रामानन्द जी महाराज की एक अमूल्य देन समझी जा सकती है क्योंकि हमारे लिए उनकी यह अन्तिम भेंट है। इसके प्रथम संस्करण के प्रकाशन की समाप्ति से पूर्व ही हरिद्वार में 15 अप्रैल, 1952, को प्रातः 5 बजे श्री स्वामी जी महाराज की इहलोक–लीला समाप्त हो गई।

यद्यपि उनके पार्थिव अन्त से हमको गहरा आघात पहुँचा – क्योंकि हम उनकी वाणी एवं उनके दैहिक स्पर्श की प्रेरणा से वंचित हो गए, तथापि उनके शरीरान्त के उपरान्त भी हम निरन्तर उनके आशीर्वादों की प्राप्ति को अनुभव कर रहे हैं। वे हमारा पथ प्रदर्शन एवं मार्ग प्रकाशित करते रहे हैं। वे इस वसुन्धरा पर एक लक्ष्य के निमित्त अवतरित हुए थे तथा हमारे आध्यात्मिक विकास में वे आज भी हमारा पथ–प्रदर्शन कर रहे हैं।

यह पुस्तिका (जो कि पूर्वली का संशोधित संस्करण है) श्री स्वामी जी की शिक्षाओं की भूमिका के रूप में अत्यधिक सहायक होगी। हम आशा करते हैं कि जो लोग इसे पढ़ेंगे वे श्री स्वामी जी की कुछ अन्य रचनायें – "Evolutionary Outlook On Life" तथा "Evolutionary Spiritualism" जो कि साधना के दर्शन–तत्व को एक नवीन दृष्टिकोण से प्रस्तुत करती है और 'अध्यात्म विकास' तथा 'आध्यात्मिक साधना' भाग 1 एवं 2 जो कि वास्तविक साधना की मार्गपुस्तिका एवं प्रदर्शन के लिए अतुलनीय है– पढ़ने के लिए प्रेरित होंगे।

यह पुस्तिका एवं श्री स्वामी जी की अन्य रचनाएं हमें प्रेरणा दें, ऐसी प्रार्थना है।

काशीनाथ

श्रीराम

मेरे विचार

साधना

''किसी का स्वयं अपने लिए साधना करना'' यह धारणा निरर्थक होती जा रही है। साधना प्रभु का कार्य है, सार्वलौकिक कार्य है तथा मानवतावादी कार्य है। यह एक सेवा एवं धर्म–प्रचार का कार्य है। जिस अंश तक तुम स्वयं प्रभु की चेतना, प्रकाश एवं प्रेम में जीवन व्यतीत करोगे उसी अनुपात में तुम उसके कार्य का एक यन्त्र बन सकोगे। उसी अंश में प्रभु तुम्हारे द्वारा कार्य करेंगे। इस आदर्श के अनुसार जीवन बिताने से तुम्हारी वाणी में असाधारण शक्ति भर जायेगी। तुम्हारे मुख से निकले शब्द दूसरों को इस आदर्श की ओर एवं माँ की गोद (प्रभु के चरणों) में खींच ले आयेंगे। ऐसा करना मात्र दूसरों को उच्चतर जीवन की ओर प्रेरित करना है, जो स्वयं अपने में एक आदर्श कार्य है। ऐसा जीवन व्यतीत करके अथवा उसकी अभीप्सा करके और माँ (प्रभु) की कृपा का साकार रूप बनकर इस उद्देश्य की प्राप्ति की जा सकती है। इस कार्य के निमित्त हम सब सहयोगी हैं। ईश्वर के आशीर्वादों सहित हम सब को आगे बढ़ना चाहिये।

तुम में उच्चतर जीवन तथा प्रेम इस प्रकार प्रस्फुटित होना चाहिए जैसे कि पुष्प में से सुगन्ध। यदि पुष्प में कोई उपयोगी तत्व होगा तो मधुमक्खियाँ उस ओर आकर्षित हो जाएंगी। दूसरों की भावना को ठेस नहीं पहुँचाओ। 'जियो और जीने दो' के सिद्धान्त के अनुसार आचरण करो। दूसरों के ऊपर स्वयं अपने को अथवा अपने विचारों को थोपे बिना यदि उनकी सहायता कर सकते हो तो अवश्य करो। प्रेम और सेवा करो।

मैं चाहता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह जीवन में किसी भी स्थिति में हो, निःस्वार्थ सेवा तथा प्रेम की साकार मूर्ति बन जाए। मैं चाहता हूँ कि वह जीवन के सामान्य व्यवहार में दैविक–शक्ति के हाथों में सेवा का पात्र बन जाए।

हमारी साधना में जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण निहित है। अतः सम्पूर्ण जीवन को तथा जीवन की प्रत्येक घटना को तुम्हें साधना की एक पाठशाला समझना चाहिये। इस कार्य में तुम्हें 'आध्यात्मिक साधना' के (भाग 1 व 2) तथा 'हमारी साधना' 'हमारी उपासना' आदि पुस्तकें अध्ययन करने से कुछ सहायता मिलेगी।

मैं कोई नवीन धर्म अथवा सम्प्रदाय स्थापित करना नहीं चाहता और न ही ऐसा अनुभव करता हूँ कि मैं किसी आध्यात्मिक उद्देश्य को लेकर इस संसार में आया हूँ। अधिक से अधिक मैं यह अनुभव करता हूँ कि इस शरीर के द्वारा माँ अपना नाटक खेल रही है। यह सब एक खेल सा दिखाई देता है। मेरे लिए इसका कोई महत्व अथवा उद्देश्य नहीं। मैं तो केवल खेल खेलता हूँ या यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि वह मेरे अन्दर खेलती है।

साधना में मेरी सहायता तथा पथ प्रदर्शन पाने के लिए व्यक्ति को मुझसे केवल कुछ ही बातों में सहमति आवश्यक है। वे हैं:

1. दैविक शक्ति के अस्तित्व में विश्वास।

2. दैविक अनुकम्पा में विश्वास।

3. यह विश्वास कि ''नाम'' के द्वारा हम उस शक्ति के साथ युक्त हो सकते हैं। मुझ से इतनी सी सहमति ही पर्याप्त है, फिर हम मार्ग पर आगे बढ़ सकते हैं। मैं इससे अधिक की माँग नहीं करता। हम भगवती माँ की कृपा के सहारे खड़े हो सकते हैं। हमारी साधना की पद्धति और दर्शन में माँ ही सब कुछ है। ''नाम'' उसकी कृपा का वाहन है।

हमारी इस साधना के पीछे युगों का उन सन्तों का अनुभव है जिन्होंने प्रभु से प्रेम किया है और उसी के लिए अपना जीवन समर्पित किया है तथा हमारा अपना निजी अनुभव है। अतः अपने साधना दर्शन की सत्यता को हम विरोध के होते हुए भी अंगीकार करते हैं क्योंकि हम जानते हैं कि वह विरोध अपरिपक्व तर्क एवं अनुभवहीनता पर आधारित है।

हमारी साधना अनुभव तथा प्रज्ञा पर आधारित है। हम अपने विश्वासों तथा कार्यों की मान्यता के प्रमाण में ग्रन्थों का प्रमाण नहीं देते। जो बात हमारी विचारधारा के अनुकूल होती है हम उसे आत्मसात् कर लेते हैं, चाहे वह कहीं से भी और किसी से भी क्यों न मिले।

हमारी साधना में महत्व केवल व्यक्तियों के विकास का है। यदि मार्ग में कोई बाधा आती है तो हम उस पर विचार करते हैं, अन्यथा सब कुछ अपनी स्वाभाविक गति से चलने देते हैं। कोई विशेष सामाजिक व्यवस्था (अथवा दर्शन) हमारी साधना के लिए न आवश्यक ही है और न उसका पूरक ही।

हमारी साधना के द्वार खुले हुए हैं और उनमें प्रवेश करने वाले सभी व्यक्तियों का हम स्वागत करते हैं। हमारा जीवन हमारी साधना के मूल्य को सिद्ध करेगा। हम अपने आपको तथा अपने सिद्धान्तों को युग के अनुकूल बनायेंगे, तथापि हमारा कर्तव्य केवल कर्म करना ही है, फल प्रभु के हाथो में है। सार्वलौकिक एवं मानवीय विकास नगण्य नहीं अपितु सर्वाधिक निर्णायक साधन है। हम तो अपनी भूमिका अदा करते हैं, विदा लेते हैं और चले जाते हैं, सारी चिन्तायें तो 'माँ' की हैं।

इस सत्य से कि विकास की वर्तमान अवस्था में आध्यात्मिकता केवल थोड़ी सी आत्माओं के लिए ही है, आध्यात्मिकता का गौरव कम नहीं हो जाता और न ही इस बात से साधना का महत्व कुछ कम हो जाता है कि भीड़–भाड़ उसमें रुचि नहीं लेती। यह एक साधना की पाठशाला है। यह जीवन की एक पाठशाला है।

मैं अपने सिद्धान्तों के लिए किसी मौलिकता का दावा नहीं करता। मैं केवल यह प्रयास करता हूँ कि मेरे द्वारा किसी ऐसी बात का प्रचार न हो जिसे मैने पूर्णतया आत्मसात् न कर लिया हो।

मैं जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण तथा एक आध्यात्मिक आदर्श का प्रतिपादन करता हूँ। यदि आधुनिक युग को इसकी आवश्यकता तथा माँ की ऐसी इच्छा होगी तो मनुष्य इसकी ओर

स्वयं आकृष्ट होंगे, इस आदर्श के अनुसार संगठन भी खड़ें होंगे और 'माँ' की इच्छानुसार प्रगति भी होगी।

किन्तु ऐसे किसी आन्दोलन के लिए अभी समय नहीं आया है। अपने इस आदर्श का प्रचार करने के बजाय स्वयं ही इसके अनसुार अपना जीवन बिताओ। जहाँ भी तुम रहो, यथाशक्ति इस आदर्श के अनुसार आचरण करो। 'माँ' से एकरूप होकर विकास करो। वह तुम्हें अपने कार्य का यन्त्र बना लेगी चाहे वह यंत्र कितना ही तुच्छ क्यों न हो।

अपनी साधना को हम आन्दोलन कैसे कहें? यह एक विचारधारा है, जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण है और उसी के अनुसार साधन प्रक्रिया की एक विशेष शैली है। (साधना–प्रक्रिया के लिए कृपया 'हमारी उपासना' नामक पुस्तक देखें)

मैं यह नहीं चाहता कि हमारी साधना धर्म प्रसारार्थ एक संगठित संस्था बना जाये। जब साधना को इस प्रकार परिसीमित कर दिया जाता है तो शनैः–शनैः वह निर्जीव हो जाती है। निःस्वार्थ सेवा एवं उसमें निहित भावना हमारी साधना का अनिवार्य अंग है। यही वह भावना है जो हममें पूरी तरह व्याप्त हो जानी चाहिये। कुछ व्यक्तियों में यह धर्म–प्रचार की सेवा का रूप भी धारण कर सकती है किन्तु इसको उसके साथ बाँध देना अविवेकपूर्ण होगा।

मैं जीता हूँ और सीखता हूँ। दूसरे भी ऐसा ही करते हैं। मैं जो कहूँ वह ठीक–ऐसा दावा नहीं करता। अतः किसी भी व्यक्ति की स्वतंत्रता का विरोध नहीं करता। मैं अपने लिए विचार स्वातन्त्र्य का अधिकार रखता हूँ और ऐसा ही अधिकार दूसरों को भी देता हूँ।

विचारों के आदान–प्रदान में मैं पूर्ण स्वतन्त्रता देता हूँ। मैं तो उसे प्रोत्साहित करता हूँ। मैं चाहता हूँ कि जीवन की परिस्थितियों का उपयोग करके आत्मा विकसित होती जाये और इस प्रकार प्रस्फुटित दिव्यत्व अपनी सुगन्ध चारों ओर बिखेर दे। इस आत्म–विकास के कारण परिस्थितियाँ स्वतः परिवर्तित हो जानी चाहिएँ तथा यह परिवर्तन स्वाभाविक एवं निर्धारित ढंग से होना चाहिये। बाह्य रूप अन्तः जगत् की स्वाभाविक अभिव्यक्ति होनी चाहिये।

सत्य से उच्चतर सत्य की ओर मेरा विकास हुआ है। ऐसी आशा मैं दूसरों से करता हूँ। साधना में प्रगति के साथ–साथ साधक बहुत सी ऐसी बातों को समझने लगता है जिन्हें कि वह पहले नहीं समझ पाता था। मेरे विचार से दूसरों के ऊपर किसी विचार या विश्वास को लादने का प्रयास करना अनाध्यात्मिक है। यह उसके मानसिक विकास को रोकना है।

जीवन तथा जीवन के घटना–चक को निर्लिप्तभाव से देखना सीखो। एक व्यक्ति इस बात का जितना ही अधिक अभ्यास कर लेता है उतनी ही अधिक तत्परता से वह अपना रूपान्तर कर सकता है, और यह जीवन स्वयं उसके लिये तथा उसके साथियों के लिए उतना ही कम कष्ट–साध्य रह जाता है। अन्ततः (व्यक्ति की) चेतना का केन्द्र उस सबसे परे है जो भीतर तथा बाहर दृष्टव्य है। तुम्हें अपनी चेतना स्थाई रूप से नहीं तो अस्थाई रूप से ही वहाँ स्थापित कर लेना कठिन नहीं होना चाहिये। ऐसा करने के लिये प्रयास आवश्यक है। जब तुम ऐसा करना चाहते हो तो तुम्हारे भीतर नाम झंकृत होना चाहिये अथवा नाम की तरंग

भीतर गहराइयों में प्रवाहित होनी चाहिये। यह नाम की झंकार तुम्हारी चेतना को अतिचेतन क्षेत्र में पहुँचा देगी, जहाँ से तुम निर्लिप्त भाव से सर्वेक्षण कर सकोगे। अपनी तथा दूसरों की गलतियों को हिमालय जैसी ऊँचाई से देखो अर्थात् उनसे अनासक्त हुए उनको देखो और उन पर विचार करो। ऐसा दृष्टिकोण काम और क्रोध की वृत्तियों को शान्त कर देगा। इस प्रकार तुम प्रभु से एकात्म हो जाओगे तथा उसकी कृपा तुम्हें तूफान में एक चट्टान की भाँति खड़े रहने की शक्ति प्रदान करेगी, उसके नाम तथा उसकी कृपा में इतनी शक्ति है। इसे असम्भव न समझो, अपने भीतर तुम सुगमता से इसे अनुभव कर सकते हो।

संकट में भी प्रभु पर निर्भर रहना सीखो। क्यों न यह तुम्हारा सदैव का साथी हो। शान्त क्षणों में तुम अपने भीतर उसकी वाणी सुन सकते हो जो अन्ततोगत्वा (सदैव – तत्क्षण नहीं) शुभ के लिये ही होती है। तुम जितना ही अधिक उसका अनुसरण करोगे, तुम्हारा पथ–प्रदर्शन उतना ही अधिक स्पष्ट और सबल होता जाएगा। विश्वास रखो और कर्म करो।

मेरा व्यक्तित्व! मेरे लिये तो केवल माँ का ही महत्व है इस व्यक्तित्व का कुछ नहीं। इसका महत्व उन लोगों के लिये है जो अपने आपको इसके द्वारा प्रभु से युक्त कर सकते हैं। किन्तु फिर भी महत्व प्रभु का ही है, इस व्यक्तित्व का नहीं।

यह सब उसकी कृपा है। यह मेरे गुरू की कृपा है। इसमें मेरा कुछ भी नहीं। मैं माँ की गोद में एक शिशु मात्र हूँ तथा उसकी इच्छानुसार नाचता हूँ।

अन्य सन्त

अपना मस्तिष्क खुला रखना एक महत्वपूर्ण बात है। बुद्धि स्थिर हो जाने पर व्यक्ति सत्य का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करने लगता है। जिन विश्वासों में हमारा राग है तथा जिनका परित्याग करने से हमको कष्ट की प्रतीति होती है वे हमारी प्रगति के मार्ग में बाधक हैं। इस समय जो मेरे सामने है समझने की जितनी शक्ति है उसके अनुसार मैं इसे सत्य समझता हूँ। परन्तु वास्तव में सत्य क्या है यह मैं नहीं कह सकता। यह अवस्था प्राप्त करना अभी शेष है।

श्री अरविन्द के विश्वास उनके अपने विश्वास हैं। किसी भी व्यक्ति के लिये किसी अन्य व्यक्ति के विश्वासों को अन्तिम रूप से सत्य समझ लेना आवश्यक नहीं। हाँ, साधना–पथ से तात्कालिक सम्बन्ध रखने वाले विश्वासों की बात और है। किन्तु जब कोई व्यक्ति अपना पथ स्वयं देखने लगता है तो उसको इतना भी मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

महात्मा गाँधी महान् हैं। तुम अपने दैनिक जीवन में उनकी जो भी अच्छी बातें ले सकते हो ले लो। अरविन्द महान् हैं। उनसे भी वह सब कुछ ले लेना चाहिये जो उनसे ले सकते हो। परन्तु पूर्णतया न तो अरविन्द बनने की इच्छा करो और न ही महात्मा गाँधी। तुम्हें स्वयं ही बनना है जो कि तुम वास्तव में हो। विकास मार्ग पर आगे बढ़ने पर तुम स्वयं इस अन्तर को समझ सकोगे। तर्क–वितर्क शान्त हो जायेंगे। बुद्धि में शान्ति का साम्राज्य होगा। मैं उन सब व्यक्तियों के प्रति असीम श्रद्धा रखने को तैयार हूँ जिनसे मैंने वह सब कुछ लिया है जो

मुझ में है, किन्तु उन्हें ईश्वर रूप समझना अथवा उनके वचनों को सर्वथा प्रमाण मानना मेरी सामर्थ्य से परे है। मैं उस प्रभु की पूजा करता हूँ जो मेरी और सबकी अन्तरात्मा में वास करता है। मैं मनुष्यों को प्रभु के हाथ में यन्त्र–मात्र देखता हूँ। मैं सत्य की पूजा करता हूँ और विश्वास करता हूँ कि सर्वोत्तम तथा अन्तिम सत्य वह होता है जो कि अन्तरात्मा से स्फुरित होता है। कोरी प्रामाणिकता केवल एक अस्थाई चीज है। भले ही वह सार्वभौमिक एवं नित्य हो।

वैश्विक कुण्डलिनी का अवतरण मेरे लिए प्रतिक्षण का एक अनुभव है। मेरे तथा अनेकों ने, जो मेरे सम्पर्क में हैं, अपने में यह अवतरण अनुभव किया है। मेरे आध्यात्मिक अनुभव श्री अरविन्द के अनुभवों की विचारधारा से मेल खाते हैं। उनका दर्शन भी मेरी विचारधारा से मिलता जुलता है। इसी कारण मैं उनके साहित्य के अध्ययन की प्रेरणा देता हूँ।

आश्रम

हाँ! तुम आश्रम बना सकते हो। परन्तु क्यों न तुम्हारा अपना घर ही प्रथम श्रेणी का एक आश्रम बन जाय? तब तुम दूसरों को भी ऐसा ही करने में सहायता दे सकोगे। कुछ भी न करने वाले आध्यात्मिक आश्रमों की अपेक्षा मैं ऐसे गृह–आश्रमों को कहीं अधिक महत्व देता हूँ।

आध्यात्मिक विकास के दृष्टिकोण से मैं, व्यक्तिगत रूप से, ऐसे स्थाई आश्रम–जीवन का विशेष मूल्य नहीं समझता। आश्रम में साधना को एक आरम्भिक गति मिल सकती है तथा प्रारम्भ में साधना की प्रगति भी शीघ्र हो सकती है परन्तु अन्ततः सर्वतोन्मुखी विकास की गति अन्यथा की अपेक्षा धीमी ही रहेगी। आश्रम–जीवन का उपयोग यदा–कदा आत्म–शोधन के लिये तथा सीमित काल के लिये ही करना चाहिए। आश्रम एक प्रकार का प्रशिक्षण–स्थल होना चाहिये। जिसके उपरान्त साधक को नव–प्राप्त सन्तुलन एवं शक्ति तथा नवीन दृष्टिकोण के साथ साहसपूर्वक संसार में कूद पड़ना चाहिए।

आध्यात्मिकता के विषय में इतनी अधिक चर्चा मुझे वास्तव में बहुत अजीब लगती है। आध्यात्मिकता जीवन से उद्‌भूत होनी चाहिए और जीवन उससे ओत–प्रोत होना चाहिये। मैं आश्रम जीवन को एक प्रकार का पलायन (यद्यपि पूर्ण नहीं) ही समझता हूँ। मेरे विचार से उसकी अनुमति केवल कभी–कभी ही दी जानी चाहिए और वह भी स्थाई रूप से कभी नहीं।

तुम विद्या–मंदिर बना सकते हो, परन्तु उनके स्वामित्व की भावना कष्ट का कारण हो सकती है। हमारा एक आध्यात्मिक आदर्श है, उसके अनुसार जीवन बिताओ और उसका प्रसार करो। फिर तुम्हारा कार्य–क्षेत्र चाहे विद्या–मन्दिर हो अथवा साधना–मन्दिर हो।

यदि एक स्थान पर रहने वाले साधक अपने लिये अथवा अपने बच्चों के लिये एक विशेष प्रकार की शिक्षा चाहें तो वे एक विद्या–मन्दिर बनाने के लिये स्वतन्त्र हैं। उसमें दी जाने वाली शिक्षा भी इसी आध्यात्मिक दृष्टिकोण से प्रमाणित होनी चाहिये। साधना–मान्दिरों के विषय में भी यही बात है।

अवतार

मेरा अवतारवाद में विश्वास है तथा इस विषय में गीता जो कुछ कहती है मैं उस पर विश्वास रखता हूँ। परन्तु मैं किसी भी अवतार विशेष को अपना सर्वस्व समझ कर उसकी पूजा नहीं करता। मेरे लिये वे दिव्य–शक्ति के वाहन हैं और इसी नाते वे मेरी श्रद्धा एवं प्रेम के पात्र हैं।

पैगम्बरों (मुहम्मद आदि) को मैं ऐसे सन्त समझता हूँ जिन्हें कि उच्चतर शक्तियों ने सर्व–साधारण के पास अपना सन्देश पहुँचाने के लिये भेजा था। इतिहास में उन्होंने धर्म–प्रवर्तकों का कार्य किया है।

सिद्ध वे होते हैं जिन्हें सिद्धियाँ अर्थात् अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। यह एक बहुत ही व्यापक शब्द है और इसके अन्तर्गत विकास के अनेक स्तर आ जाते हैं।

मूर्ति–पूजा

मूर्ति–पूजा एक भ्रान्तिपूर्ण शब्द है। यह पूजा तो उस शक्ति अथवा आत्मा अथवा स्वयं उस ईश्वर की होती है जिसकी उस मूर्ति में प्रतिष्ठा हुई होती है। पूजा प्रतिमा की नहीं की जाती, पूजा उस चेतना की होती है जिसका उस मूर्ति में आवाहन किया जाता है। जिस प्रकार वैदिक संस्कारों में आहुतियाँ देकर अग्नि में देवों का आवाहन किया जाता है और उनकी पूजा की जाती है उसी प्रकार प्रतिमाओं में देवताओं का आवाहन किया जाता है और उनकी पूजा की जाती है। यह पूजा की एक विधि है और प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रवृत्ति तथा आवश्यकता के अनुसार इसे स्वीकार अथवा अस्वीकार करने में स्वतन्त्र है।

धर्मशास्त्र

मैं संसार भर के जाने–माने धर्मशास्त्रों का सम्मान करता हूँ, किन्तु मैं उनके समर्थकों द्वारा कही गई प्रत्येक बात को स्वीकार नहीं कर सकता। वास्तव में मैं धार्मिकता तथा आध्यात्मिकता के बीच एक स्पष्ट विभाजक रेखा खींचता हूँ। धर्मशास्त्रों के धार्मिक तत्वों का मेरे लिये कोई आकर्षण नहीं किन्तु आध्यात्मिक–तत्वों में मैं गहरी निष्ठा रखता हूँ। आध्यात्मिक विकास के बहुत से मार्ग रहे हैं और हमें एक विशेष धर्मशास्त्र द्वारा प्रतिपादित मार्ग के अनुसार ही शिक्षाएँ मिलती हैं। मैं धर्मशास्त्रों को उनमें दिये आदेशों की अपेक्षा शिक्षात्मक सत्यों के रूप में अधिक मूल्य देता हूँ।

'मैं' क्या है

'मैं' क्या है? वास्तव में तुम जो हो या अंतिम सत्य जो है उसे तभी जान सकते हो जबकि तुम उसमें स्थापित हो जाओ। विचारों की अन्तर्निहित सीमा के कारण 'मैं' का वर्णन करने के समस्त प्रयास निश्चित रूप से अपूर्ण ही होते हैं। एक दृष्टिकोण से 'मैं' अक्षर है – निर्विकार एवं नित्य, और इस प्रकार 'मैं' सभी कुछ है। 'मैं' ब्रह्म है। 'मैं' परमात्मा है। एक दूसरी तथा उच्चतर (मेरे विचार में) दृष्टि से 'मैं' उस अविभाज्य पुरुषोत्तम की एक किरण है

जो कि ब्रह्माण्ड के रूप में अभिव्यक्त हो रही है। उदाहरणार्थ हम एक शंकु (Cone) की उपमा लें। यह माना जा सकता है कि वह अनेकों से मिलकर बना है जो शीर्ष में सब एक हैं, किन्तु आकृति में वे सम्पूर्ण के भिन्न–भिन्न भाग हैं। अक्षर के स्तर पर हम सब एक हैं। निम्नतर स्तरों पर हम अंश हैं। मैं तो ऐसा ही समझता हूँ (पुरुषोत्तम का स्तर प्रकृति से परे का है)।

मन, हृदय तथा इन्द्रियों को आत्मा अभिव्यक्ति का एक वाहन बनाती है। तदुपरान्त यह वाहन मन, हृदय तथा इन्द्रियों को भौतिक स्तर पर प्रकट कराने के लिये एक शरीर धारण करता है।

अन्ततः जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ इस प्रश्न का समाधान तभी हो सकता है जबकि तुम विकास के उच्चतर स्तरों पर पहुँच जाओ और उच्चतम में स्थित हो जाओ। आरम्भ में ही इसके ऊपर अधिक विचार करना मैं अनावश्यक समझता हूँ।

स्वयं को ज्ञान में स्थित कराने के लिये तुम्हें अपने को पूर्ण बनाना है और वह साधना के द्वारा ही सम्भव है।

धन

धन का जीवन में जो वास्तविक स्थान है उसे पहिचानो तथा धन को उसका उचित स्थान दो। यह तो स्पष्ट ही है कि जीवन–यापन के लिये तथा सदुपयोग करने के लिये धन आवश्यक है और सद्व्यय करने के लिए ही इसे अर्जित किया जाये तो मुझे इसमें कोई भी हानि दिखाई नहीं देती। यदि धन को स्वयं में एक साध्य बना लिया जाय तो वह भयंकर मोह–पाश बन जाता है और पतन का कारण होता है। पूंजीवाद के लिये धन–संग्रह आवश्यक है। यह विचार कि हमें संकट काल के लिये कुछ अवश्य बचाना चाहिये सामान्यतः भय की भावना उत्पन्न करता है। फलतः अनुचित संग्रह हाने लगता है। इससे बवने का एक मात्र उपाय है प्रभु (कुछ लोग कर्म कहेंगे) में विश्वास रखो। व्यक्ति की सम्पूर्ण सम्पत्ति कुछ क्षणों में ही उसके हाथों से निकल सकती है। दूसरे शब्दों में, जो कुछ घटे उसे प्रभु की इच्छा समझ सहने को तैयार रहो। उससे डरो मत अपितु बुरी से बुरी स्थिति का स्वागत करने के लिये तैयार रहो। भविष्य में निर्धन हो जाने का भी भय अपने मन में न आने दो। यह मानसिक त्याग है। जब यह प्राप्त हो जाता है, मार्ग स्पष्ट हो जाता है। ईमानदारी से धनोपार्जन करो तथा लखपति या करोड़पति होने की महत्वाकाँक्षा अपने मन में न रखो। साधारणतया जो बचा सकते हो, बचाओ। इस प्रकार से बचाये धन को यदि उत्पादन में लगाया जाय तो वह वास्तव में समाज की सेवा है। पूंजीवादी समाज में पूंजी एक आवश्यकता है।

इससे एक दूसरा प्रश्न उत्पन्न होता है। धन कमाने का उचित साधन क्या है? धन के प्रति कोई आसक्ति अथवा लोभ न रखो। अपितु, यह समझो कि व्यापार के द्वारा तुम समाज की सेवा कर रहे हो और वास्तव में ऐसा है भी, व्यक्ति केवल अपने संकीर्ण अहंवादी दृष्टिकोण का परित्याग नहीं करता। इस सत्य के प्रति जागरूक रहते हुए तुम ऐसे साधनों का प्रयोग

नहीं कर सकोगे जो समाज के लिये हानिकारक सिद्ध हों। यदि व्यापारी अपना उचित भाग लेता है तो वह कोई पाप नहीं करता किन्तु उसे अनुचित लाभ नहीं उठाना चाहिये।

धन से डरो नहीं। तुम्हारे पास यदि करोड़ों रुपया आता है तो आने दो। उसका दूसरों तथा अपने हित के लिये सदुपयोग करो। यदि तुम निर्धनता तथा लोगों के सामान्य दुःख की समस्याओं के विषय में पूछते हो तो मैं यह कहूँगा कि तुम्हें अपने कर्तव्य का पालन करना है। जहाँ तक दान का सम्बन्ध है, तुम्हें अपनी आय का एक अंश (स्मृतियों के अनुसार दस प्रतिशत) पारमार्थिक कार्यों के लिये अलग रख देना चाहिये।

संस्कार

प्राचीन संस्कारों (धार्मिक) उपनयन आदि की अपनी सार्थकता थी। उनको यदि समुचित रूप से सम्पन्न किया जाय तो उनका आज भी विशिष्ट प्रभाव हो सकता है। संस्कारों के द्वारा सूक्ष्म शरीर के कुछ केन्द्रों को प्रभावित किया जा सकता है। अपने शरीर से निकलने वाली सूक्ष्म तरंगों (Aura) में हम परिवर्तन कर सकते हैं। हाँ, सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन के अनुसार संस्कारों में भी संशोधन करना आवश्यक हो जाता है।

उनको सम्पन्न न करके तुम स्वयं अपने को तथा अपने परिवार के अन्य सदस्यों को उस सहायता से वंचित कर लेते हो जो संस्कारों द्वारा तुम्हें मिलनी सम्भव होती है।

प्राचीन त्यौहार उत्सव मनाने के अवसर प्रदान करते हैं। वे घिसे पिटे दैनिक जीवन में एक सुखद परिवर्तन लाते हैं और हमारी राष्ट्रीय परम्पराओं को आगे ले जाते हैं। हाँ, उनके मनाने के ढंग में सुधार अवश्य किया जा सकता है।

पितृ–तर्पण

पितरों के निमित्त समुचित रूप से दिये गये दान को मैं लाभदायक समझता हूँ। यह उनके निमित्त आवश्यक है जिन्होंने अपने जीवन काल में कुछ मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों के कारण इसकी आवश्यकता में विश्वास रखा। यह प्रथा औसत के ऊपर आधारित है और कुछ स्थितियों में जहाँ कि मृत्यु के शीघ्र ही बाद पुनर्जन्म हो गया हो, निरर्थक हो सकती है।

गया आदि कुछ स्थानों में वहाँ प्रतिष्ठित देव–प्रतिमाओं के कारण आध्यात्मिक प्रभाव हो सकता है। इस विषय में मेरा परम्परा में विश्वास रखने की ओर झुकाव है।

मेरा ऐसा विश्वास नहीं है कि यदि ऐसा कोई दान नहीं दिया जाय तो मृत्यु के उपरान्त आत्मा को आगे की यात्रा में अवश्य ही बाधा पड़ेगी। परन्तु इन दानों के द्वारा हम उसकी गति तीव्र कर सकते हैं।

प्रेतात्माएँ

मैं इस विषय की ओर कई वर्षों से आकृष्ट रहा हूँ। मैंने इस सम्बन्ध में कुछ साहित्य का अध्ययन भी किया है और कुछ बातों को मैं अन्य साधनों से भी जानता हूँ। इस बात का

क्या प्रमाण है कि केवल भौतिक जीवन का ही अस्तित्व होता है? और इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है कि हमारे चारों ओर का वातावरण हमसे भिन्न स्तर की एक अन्य सृष्टि से परिपूर्ण हो। किन्तु इनसे डरना किस लिये? उनमें से अधिकतर हानि–रहित प्राणी होते हैं और जो हानि पहुँचा सकते हैं वे भी उन व्यक्तियों को प्रभावित करने का साहस नहीं कर सकते जिनमें तुम जितना भी मनोबल होता है। ऐसे प्रभावों से बचने का एक अन्य उपाय राम–नाम है।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रेत–विद्या के नाम पर छल नहीं होता अथवा अन्ध–विश्वास ने भारत को कोई हानि नहीं पहुँचाई। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अधिकतर घटनायें वातोन्माद (हिस्टीरिया) को होती हैं जिन्हें भूल से प्रेत का आक्रमण मान लिया जाता है। किन्तु जानने वाला व्यक्ति वातोन्माद की अपेक्षा प्रेत–ग्रसित व्यक्ति को अधिक सुगमता से निरोग कर सकता है। बालकों को भूत–प्रेत की कहानियाँ सुनाना वास्तव में हानिकारक होता है। भूत से जीवित प्राणी की अपेक्षा अधिक डरने का कोई कारण नहीं। स्थूल रूप न होने के कारण भूत तो जीवित मनुष्य से कहीं अधिक निर्बल स्थिति में होता है। सच तो यह है कि भय ही सब से बड़ा भूत है। वैयक्तिक सुझाव तथा धैर्यपूर्वक अनासक्त पर्यवेक्षण के द्वारा भूत के भय को भगाया जा सकता है।

मेरा विश्वास करो। अपने भीतर राम–नाम की गूंज से तुम उस कल्पना में आने वाले सर्वाधिक शक्तिशाली दानव का भी सामना कर सकते हो।

भूतों का अस्तित्व होता है। प्रेत सहित वे सृष्टि के वास्तविक सत्य हैं। इस विषय में मेरा दृष्टिकोण थियोसोफी के विचारों से मेल खाता है।

धर्म

मैं धर्म को निरन्तर परिवर्तनशील मानता हूँ। यह देश तथा काल के साथ बदलता रहता है। यह एक सैनिक स्कूल की अपेक्षा प्रारम्भिक स्कूल अधिक है। धार्मिक सिद्धान्तों को आधारभूत आध्यात्मिक सत्यों के प्रकाश में अध्ययन करना मनोरंजक एवं ज्ञानवर्धक है।

धर्म समाज की अखण्डता की एवं व्यक्ति की शुचिता की रक्षा करता है। यह एक सामाजिक संगठन को जन्म देता है। अनेक प्रकार के सामाजिक संगठन सम्भव हैं। उनमें से प्रत्येक जीवन के कुछ विशेष मूल्यों की साधना के लिये अधिक उपयुक्त होता है। हमारा सामाजिक संगठन क्या हो? यह इस बात पर निर्भर करेगा कि हम उसके द्वारा क्या पाना चाहते हैं। किसी संस्कृति का मूल आधार होती हैं उसकी प्राप्तियाँ। हमारे प्राचीन सामाजिक संगठन का उद्देश्य आध्यात्मिक प्राप्तियों (धर्म, अर्थ, काम, तथा मोक्ष सहित) की अनुभूति रहा है। बहुत सी उथल–पुथल हुई और बहुत परिवर्तन हुआ। आज उस आध्यात्मिक अनुभूति का बाह्य अर्थ सर्वथा बदल गया है। उसकी प्राप्ति के साधन भी बदल गये हैं। वह पुराना संगठन छिन्न–भिन्न हो गया है तथा उससे उस लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती जिसके लिये उस संगठन का निर्माण किया गया था।

हम समाज के ऊपर बाहर से किसी संगठन को नहीं लाद सकते किन्तु समाज के सहज विकास में सहायता अवश्य दे सकते हैं। हम विकास के आवश्यक तत्वों के ऊपर बल दे सकते हैं तथा उनको प्रमुखता दिला सकते हैं।

धार्मिक तथा सामाजिक संस्थाओं का कोई विशेष महत्व नहीं। परिवर्तन एक औपचारिक चीज है। मेरे लिये तो महत्व व्यक्ति के जीवन का है, उसके व्यवसाय, वर्ग अथवा सम्प्रदाय का नहीं।

मैं कैसा भी संगठन बनाने का विचार नहीं रखता। प्रेम के द्वारा हम स्वतः एक दूसरे के निकट आते हैं किन्तु हमारे साधक होने के कारण, किसी आवश्यकता से यदि कोई संगठन स्वतः खड़ा हो जाय तो उससे निस्सन्देह बचा नहीं जा सकता। हम साधना, अखण्ड जाप आदि के लिये एकत्रित होते ही हैं।

व्यवहार सम्बन्धी किसी भी बाह्य नियम से मुझे घृणा है। निष्कपटता या सरलता को प्रेम का नियम मानते हुये मैं उसे बहुत पसन्द करता हूँ परन्तु उसे किसी पर थोपना अति अस्वाभाविक तथा प्रेमहीन लगता है। सभी को एक इकाई के रूप में निःस्वार्थ दैविक प्रेम से ओत–प्रोत हो विकसित होने तथा सबकी समान रूप से सेवा करने का हमारा ध्येय होना चाहिये।

जाति–प्रथा

मेरा विचार है कि जाति–प्रथा की उपयोगिता अब समाप्त हो गई है। यह प्रथा मृत हो चुकी है। अब तो इसका सड़ता हुआ अस्थि–पंजर ही शेष रह गया है। राष्ट्र के इतिहास में एक समय इसका अर्थ था, परन्तु वर्तमान में यह नितान्त निरर्थक है।

जब तक एक व्यक्ति किसी जाति, सम्प्रदाय अथवा संस्कृति को अपनी समझता है तब तक वह अन्य किसी जाति इत्यादि के व्यक्ति के साथ एकात्मीयता अनुभव नहीं कर सकता। जब तुम प्रभु के अतिरिक्त अन्य किसी को भी अपना नहीं समझते तब समस्त बन्धन टूट जाते हैं, सारा मोह समाप्त हो जाता है और तभी तुम्हारा हृदय सत्य की ज्योति से आलोकित हो सकता है। सबमें प्रभु का दर्शन तुम तभी कर सकते हो जब यह बन्धन टूट जाये। केवल इसी साधन से तुम घृणा से ऊपर उठ सकते हो। यदि एक बार यह सम्भव हो जाय तो तुम अपने तथाकथित धर्म तथा संस्कृति की भी पहिले की अपेक्षा अधिक सेवा कर सकोगे क्योंकि यह अधिक विशाल दृष्टिकोण तथा विस्तृत प्रेम उत्प्रन्न करता है। तुम प्रेम कर सकते हो। तुम सीमाओं से मुक्त हो सकते हो।

बुद्धि गर्व करने के लिए सदैव पार्थक्य चाहती है जिस पर वह अभिमान कर सके, किन्तु आत्मा केवल एकता में ही आनन्द का अनुभव करती है। आत्मा के स्तर तक उठ जाओ और वहीं रहो।

मैं चाहता हूँ कि साधक के जीवन में आत्म–बलिदान की भावना तथा आध्यात्मिक प्रेम की कान्ति ही सर्वोपरि हो। जाति–प्रथा के प्रति आक्रामक न बनो और न ही बल–पूर्वक उसे ध्वस्त करने की चेष्टा करो। ऐसा करने से अनावश्यक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

विवाह तथा तलाक

विवाह की वर्तमान प्रणाली में यद्यपि कुछ दोष अवश्य है, तथापि वह प्रेम–विवाह पद्धति से कहीं अधिक श्रेष्ठ है। हमारा विवाह का आदर्श बहुत उँचा है। हमें उसे सजीव रखने का प्रयास करना चाहिये।

तलाक की अनुमति देने वाले कानून पर मुझे कोई आपत्ति नहीं। परन्तु मैं चाहता हूँ कि विवाहोपरान्त जब तक तीन वर्ष न बीत जाएँ तलाक की स्वीकृति न दी जाय।

दहेज माँगने की प्रथा बुरी है। विवाह खर्चीले भी नहीं होने चाहिये।

मैं स्त्री को पुरुष से निम्न नहीं सोच पाता। आध्यात्मिक विकास तथा सामाजिक जीवन में दोनों का अपना–अपना स्थान है। परन्तु समानता का अर्थ हर बात में बराबरी करना नहीं हो सकता। एक स्त्री का उच्चतम विशेषाधिकार मातृत्व है, विदेशी दूतालय में सचिव–पद नहीं। स्त्री तथा पुरुष को एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा किये बिना अपना–अपना जीवन बिताना चाहिये।

मैं विवाह को दो समान व्यक्तियों का आध्यात्मिक मिलन मानता हूँ।

मैं मानव प्राणियों की अन्तर्निहित समानता में विश्वास रखता हूँ।

गोद लेने तथा उत्तराधिकार का कानून मेरी समझ में नहीं आता।

आक्रामक सुधारवादी दृष्टिकोण मुझे पसन्द नहीं। आन्तरिक माँग तथा विकसित समझ के फलस्वरूप क्रमिक परिवर्तन ही उचित मार्ग है। समग्र रूप में क्रान्तियाँ भलाई की अपेक्षा हानि ही अधिक करती हैं।

हमारी सामाजिक व्यवस्था में कुछ उत्कृट मूल्य हैं, कुछ प्रशस्य आदर्श हैं। इन आदर्शों को सम्मुख रखकर समाज में स्वतः परिवर्तन होने देना चाहिये। निस्सन्देह यह एक मन्द प्रक्रिया है।

हमें और भी बहुत सी बातें ध्यान में रखनी है। यह सब समस्यायें जटिल–प्राय हैं तथा इन पर अनेक दृष्टिकोणों से विचार किया जाना चाहिये। समाज को व्यक्ति के जीवन में हस्तक्षेप करने का अधिकार केवल उसी स्थिति में है जबकि वह 'जियो तथा जीने दो' के विधान की अवहेलना करे। आक्रामक प्रवृत्ति का प्रतिकार अवश्य होना चाहिये।

साम्यवाद

साम्यवाद की दार्शनिक नींव बहुत अस्थिर है। मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद अपूर्ण है। वह वैज्ञानिक भी नहीं। मेरे पास अपने निजी तथा ऐसे अनेकों के जिन्हें कि मैं भली–भाँति जानता हूँ, आध्यात्मिक अनुभवों का ज्ञान होने के कारण साम्यवाद मुझे तनिक भी प्रभावित नहीं कर पाता।

मार्क्स की सामाजिक तथा आर्थिक घटना–चक्र की व्याख्या यदि निश्चित रूप से दुर्भावना पूर्ण नहीं तो कम से कम संवेदनहीन तो अवश्य है। यह व्याख्या मनुष्य को चेतना की एक विकासशील इकाई मानना अस्वीकार करती है। यह मनुष्य की बुराई पर अत्यधिक ध्यान देती है और इस प्रकार उसके लिए लोहे का पिंजरा बना देती है जिसमें कदाचित् वह शान्तिपूर्वक तथा समृद्धिपूर्वक रह सकता। यह मानव–गौरव एवं उसकी अन्तर्निहित दैविकता के निषेध के ऊपर आधारित है। इसे कोई भी मनुष्य भला कैसे स्वीकार कर सकता है।

साम्यवाद के मूल्यों के मापदण्ड में से, जो कि उसके दर्शन का अनिवार्य प्रतिभाग है, पशुता की गन्ध आती है। निस्सन्देह समाज के आर्थिक जीवन में संकट लाने के लिए यह मनुष्य की निकृष्ट प्रकृति (लोभ, क्रोध, घृणा व स्वार्थपरता) की उत्तेजित करती है।

एक सिद्धान्त के रूप में साम्यवाद सारहीन है। यह केवल अनभिज्ञ युवकों को ही, जिनमें कि समाज विरोधी भावना प्रधान होती है, आकर्षित कर सकता है।

इस बात को मैं सहर्ष स्वीकार करता हूँ कि साम्यवादी व्यवस्था के कारण रूस तथा अन्य देशों ने भौतिक तथा वैज्ञानिक व्यवस्था में अत्यधिक उन्नति की है। जीवन तथा उसकी समस्याओं के प्रति उसके दृष्टिकोण को पूर्णतया अस्वीकार करते हुये भी मैं अपने समाज की व्यवस्था में परिवर्तन का स्वागत करूँगा यदि उससे हमारी समस्याओं का सफलतापूर्वक समाधान हो सके। परन्तु वह समाधान विनाशकारी नहीं होना चाहिये। मैं एक ऐसी व्यवस्था के लिए तैयार हूँ, जिसे वस्तुतः साम्यवाद ही समझा जा सके।

हमें धैर्य रखना चाहिए एवं समस्याओं पर बिना किसी उत्मत्तता और राग के विचार करना चाहिये। हम में कट्टरता नहीं होनी चाहिये और न ही किसी भी व्यक्ति के प्रति कोई दुर्भावना, क्योंकि उन्मत्तता और द्वेष हमारी दृष्टि को धूमिल कर देते हैं। जिन परिवर्तनों को हम चाहते हैं उन पर विचार करें, उन परिवर्तनों से होने वाली प्रतिक्रिया पर भी ध्यान दें; तथा इस परिवर्तन के फलस्वरूप और क्या प्रभाव होगा, इसे भी जानें। उस मूल्य के ऊपर भली–भाँति विचार करें जो हमें चुकाना पड़ेगा। तदुपरान्त मार्ग निश्चित करें कि अपेक्षित परिवर्तन कैसे और कितना लाना है।

एक लाभपूर्ण सौदा करो। मैं तो सभी को सुखी देखना चाहता हूँ।

साम्यवादी उन्मत्तता एक उन्माद है। वह व्यक्ति को जीवन के उच्चतर मूल्यों के प्रति अन्धा बना देता है। किसी दल का विदेश के साथ गठ–बन्धन रखना निन्दनीय है क्योंकि उनके साधन पाशविक हैं।

स्वतन्त्र भारत को अपनी परिस्थितियों का पूरी तरह सामना करना चाहिये। उसे अपनी समस्याओं का समाधान अपने ढंग से करने के लिये तैयार रहना चाहिये। कहीं बाहर से पका–पकाया समाधान खोजने अथवा समृद्धि के लिये कोई अति छोटा मार्ग पकड़ने का प्रयास करने से काम नहीं चलेगा। हमारे पीछे एक दीर्घ इतिहास निहित है। हमारी प्रतिभा, धैर्य, निष्कपटता तथा आत्मबलिदान की एक परम्परा है। वर्तमान (काल) प्रतिक्रिया की एक

अवस्था है। हमें अपनी आध्यात्मिक थाती के प्रति जागरूक रहना चाहिये और हम ऐसा अवश्य कर सकेंगे। मेरा विश्वास है कि हमारी राष्ट्रीय चेतना निश्चय ही शीघ्र दृढ़ होगी और आगे का मार्ग प्रशस्त होगा।

भारत आज संक्रमण काल से गुजर रहा है। अतः यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि भविष्य में किन मूल्यों का प्राधान्य होगा। क्या हम अपने सहस्रों वर्षों के अनुभव भुलाकर पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव में पुनः नया राष्ट्रीय जीवन शुरू करने जा रहे हैं अथवा हमारा परम्परागत अनुभव हमारे मानस को पुनः उत्प्रेरित करेगा और हमको तदनुसार ढालने की सामर्थ्य प्रदान करेगा? भविष्य की बागडोर नियति के हाथ में है। यदि हम पाश्चात्य ज्ञान को अपने आध्यात्मिक दृष्टिकोण में आत्मसात् कर लें तो हमारा तथा मानव जाति का भविष्य गौरवमय है। यदि हम ऐसा नहीं करते और उसके प्रभाव में बह जाते हैं तो हमारा और कदाचित् वर्तमान मानव जाति का भी भविष्य अन्धकारमय हो जाने का भय है।

समाजवाद हमारी संस्कृति के लिए अनिष्टकारी नहीं है, और न ही संशोधित साम्यवाद। यदि हमारा सामाजिक मन जीवन के उच्चतर एवं अत्युत्तम मूल्यों की साधना को किसी सामाजिक अथवा आर्थिक पुनर्गठन का उद्देश्य बना लेता है तो हम भारतीय ही रहते हैं एवं भारतीय संस्कृति जीवित रहती है। यदि हमारी चेतना परमसत्ता को सर्वोच्च अनुभव करती है और अन्य सब वस्तुओं को उसके अधीन, तो पाश्चात्य वेश–भूषा, सुविधाएं, यन्त्र आदि भारत को कदापि नष्ट नहीं कर सकते। यदि यह चेतना पुनः अभिव्यक्त होती है तो हमारे कर्म अवश्य शुभ की ओर परिवर्तित होंगे।

जहाँ तक इस आधारभूत तथ्य का सम्बन्ध है, इस्लाम से भारतीय संस्कृति को कोई भय नहीं। इस्लाम पूर्वी तथा आध्यात्मिक है। हम यहाँ एक हैं।

आध्यात्मिक लोकतन्त्र

आज संसार पूर्णतया अस्थिर दिखाई पड़ता है। सम्पन्नता तथा शक्ति के ऊपर आधारित सभ्यता का दिवाला निकलता जा रहा है। विज्ञान ने हमें महान् शक्ति प्रदान की है किन्तु उच्चतर सिद्धान्तों की ओर से अनभिज्ञ है। अतएव आज विज्ञान विनाश का एक भयंकर यन्त्र बन गया है। विश्व एक संकट में ग्रसित है। यदि मनुष्य ने अपनी आन्तरिक सीमाओं का अतिक्रमण न किया तो कोई भी बाह्य शक्ति संकट की उस बाढ़ को रोक नहीं सकेगी जो कि बढ़ती ही जा रही है। आत्म–पीड़ित मानवता जिस शान्ति के लिये तड़प रही है वह न तो समाजवाद प्रदान कर सकता है और न ही साम्यवाद और न ही विभिन्न देशों का एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ।

एतदर्थ एक और केवल एक ही उपाय है – समस्त मनुष्य, विशेषतः नेता, सम्पन्नता तथा शक्ति (व्यक्तिगत, जातीय, सामाजिक तथा राष्ट्रीय) के लोभ से ऊपर उठें। किन्तु ऐसा तब तक नहीं हो सकता जब तक कि वे ऊँच–नींच, काले–गोरे, हिन्दु–मुसलमान आदि समस्त मानव जाति में ईश्वर के दर्शन नहीं करते।

वर्तमान आन्तरिक सीमाओं का अतिक्रमण करने के लिए हमें अपनी उच्चतर चेतना (वह चेतना जो प्राणिमात्र की उच्चतम चेतना है जो प्रभु ही है) की ओर अभिमुख होना पड़ेगा तथा उससे सजीव सम्बन्ध स्थापित करना होगा, केवल तभी वांछित रूपान्तर हो सकेगा। यह सम्बन्ध तो पहिले से ही है, हमें केवल उसे पहचानना–मात्र है। हम उसके हैं, उसमें है और उसी के लिए हैं।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मानवजाति ऐसे नेताओं की अपेक्षा रखती है जो इस महान् चेतना से ओत–प्रोत रहते हों। ऐसे नेताओं से हमको आध्यात्मिक लोकतन्त्र प्राप्त होगा। वह एक ऐसा लोकतन्त्र होगा जो पूँजीपतियों का नहीं होगा; वह एक ऐसा समाजवाद होगा जो अपरमार्थिकता तक सीमित नहीं होगा; वह एक ऐसा साम्यवाद होगा जो नियंत्रण से मुक्त होगा; वह एक ऐसा लोकतन्त्र होगा जो इन सबका अतिक्रमण करेगा।

इस चेतना में विकसित होना वास्तव में मानवजाति की सर्वोत्तम सेवा के योग्य बनना है। आज के युवकों को मानवजाति की बागडोर संभालनी है। उनके लिये यह पीड़ित मानवता, आध्यात्मिकता तथा दैविक सत्ता का आवाहन है।

''तुम अतिमानव बनो, स्वर्ण–पुरुष बनो, अपने साथियों के सच्चे सेवक – नेता बनो।''

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

श्रीराम